सामयिक प्रकाशन

समाज और इतिहास

नवीन शृंखला

8

इतिहास, समाज और पर्यावरण

दुनू राय

नेहरु स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय
2014

NMML Occasional Paper

नेहरु स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय

© दुनू राय, 2014
सर्वाधिकार सुरक्षित। लेखक की लिखित अनुमति के बिना इस प्रकाशन के किसी भी अंश का दोबारा प्रयोग, पुनरोत्पादन किसी भी रुप में नहीं किया जा सकता। इसमें व्यक्त विचार, अर्थनिर्धारण तथा निष्कर्ष पूर्णतः लेखक के हैं और किसी भी तरह, पूर्णरुपेण अथवा अंशतः, नेहरु स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय के विचारों को नहीं दर्शाते।

प्रकाशक

नेहरु स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय
तीन मूर्ति भवन
नई दिल्ली–110011
ई.मेल : ddnehrumemorial@gmail.com

आईएसबीएन : 978-93-83650-23-1

मूल्य रुपये 100/- ; यूएस $ 10

पृष्ठ सज्जा और मुद्रण : ए.डी. प्रिंट स्टूडिओ, 1749 बी/6, गोविन्द पुरी, एक्सटेंशन कालकाजी, नई दिल्ली–110019. ई.मेल : studio.adprint@gmail.com

इतिहास, समाज और पर्यावरण*

दुनू राय**

जिस इतिहास की हम बात कर रहे हैं, उसी को कुछ और विस्तार में, मैं यहां बताने की कोशिश करूंगा कि पिछले दशकों में पर्यावरण की समझ कैसे बदली है और किस प्रकार से विभिन्न लोग अलग–अलग नज़रियों से इससे जुड़े हैं। प्रारम्भ के प्रकृति केंद्रित अभियान के मूल में यह भावना थी कि पर्यावरण को विनाश से कैसे बचाया जाए। आप में से कुछ लोगों ने सुना होगा 1962 में केरल शास्त्र साहित्य परिषद् (KSSP) की स्थापना इस उद्देश्य से की गयी थी कि विज्ञान का प्रसार हो, वह लोगों तक पहुँचे, खास तौर से मलयालम भाषा में उसका विस्तार हो। कुछ दिनों बाद यह समझ में आ गया कि केवल प्रचार प्रसार करने से विज्ञान लोगों तक नहीं पहुँचता है। उसकी एक वजह यह भी है कि विज्ञान कहीं–न–कहीं अमीरों की संपत्ति बन गया हैं। विज्ञान को यदि लोगों तक पहुँचाना है तो उसके लिए कुछ अन्य प्रयास करने होंगे। इस बात को ध्यान में रखते हुए 1972 मे 'सामाजिक क्रांति के लिए विज्ञान' का एक नया नारा देश को मिला। इसके पहले नेहरुजी ने यह ज़रुर कहा था कि हमें 'सांइटिफिक टेम्पर' की जरुरत है। लेकिन पहली बार इस देश में ऐसा हुआ कि विज्ञान का नाम सामाजिक क्रांति से भी जुड़ा। बढ़ते–बढ़ते केरल शास्त्र साहित्य परिषद् का विस्तार हुआ, केवल केरल में ही 40,000 लोग इसके सदस्य हैं।

उनकी समझ में परिवर्तन तब हुआ जब 1976 में साइलेंट वैली परियोजना की घोषणा केरल में हुई, यह 240 मैगावाट की जल विद्युत परियोजना थी। एक नदी को बांधा जा रहा था जिसमें करीब 530

* 4 फरवरी, 2013 को नेहरु स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय, नई दिल्ली में दिए गए व्याख्यान का संशोधित संस्करण।

** अनुब्रतो कुमार राय जो कि दुनू राय के नाम से विख्यात हैं, एक विशिष्ट सामाजिक कार्यकर्त्ता, पर्यावरणविद् और हज़ार्ड सेंटर (ख़तरा केन्द्र), नई दिल्ली के निदेशक हैं। हज़ार्ड सेंटर (ख़तरा केन्द्र) एक ऐसा सहायक संगठन है जो शहरी गरीबों एवं उनसे संबंधित संगठनों को परामर्श प्रदान करता है।

हैक्टर जमीन डूब रही थी। घाटी घने जंगलों से भरी हुई थी और इसी बात को लेकर केएसएसपी की तरफ से यह मुद्दा उठाया गया कि यह जमीन डूब जायेगी, तो धरोहर समाप्त हो जाएगी। केएसएसपी ने दुर्लभ तथ्यों द्वारा दिखाया कि यह जंगल कितना घना है, इसमें कितनी प्रजातियां हैं और इसलिए यह बेशकीमती धरोहर है जिसको बरबाद नहीं करना चाहिए। काफी बड़ा आंदोलन चला और सन् 1980 के दशक में इन्दिरा गांधी, जो उस वक्त प्राइम मिनिस्टर थीं, इसे रोकने की घोषणा की। रोक तो लगा दी गई लेकिन जो दो चीजें उसके बाद हुई, वह और दिलचस्प हैं।

पहली बार राष्ट्रीय उद्यान की घोषणा हुई और संरक्षण के बारे में एक अवधारणा सामने आई कि अगर प्रकृति को बचाना है तो एक "कोर ज़ोन" हो, जिसमें से इन्सान को निकाल कर उसके अगल–बगल "बफर" बनाना होगा, जिसमें इन्सान रह सकता है। प्रकृति और मानव को अलग करेंगे तभी प्रकृति बच पायेगी और दूसरा, जो क्रमशः इसके बाद हुआ, वह था कि ईआईए (EIA) का प्रचलन हुआ, यानि कि किसी भी परियोजना को स्थापित करने अथवा क्रियान्वित करने के पहले उसके पर्यावरणीय असरों का अध्ययन होना बहुत जरूरी है। जब यह अध्ययन कहेगा कि पर्यावरण के ऊपर कोई असर नहीं पड़ेगा, तभी उस परियोजना को मान्यता प्राप्त होगी। ईआईए का सिलसिला जब से चला है, तब से यह सवाल भी उठा है कि ईआईए (EIA) करता कौन है ? जो परियोजना चलाने वाला है उसी को अगर कहा जाये कि तुम ईआईए (EIA) करो तो यह सवाल भी बार–बार उठेगा कि प्रदूषण कौन फैला रहा है ? धरती को बर्बाद कौन कर रहा है? अगर ईआईए (EIA) भी आप उसके हाथों सौंप दोगे तो फिर ईआईए (EIA) का क्या अस्तित्व रह जाएगा ?

जो संस्थायें पर्यावरण की रक्षा के लिए बनी हैं, उनमें भी यही बात दिखती है। 1969 में वर्ल्ड वाइल्डलाइफ फंड (WWF) की स्थापना हिंदुस्तान में हुई थी। जानवरों को बचाने के लिए एक फण्ड बनाया गया। बहुत प्रयास के बाद तीन साल के अंदर 1972 में वन्यप्राणी संरक्षण अधिनियम (Wildlife Conservation Act) बन गया। जब अगले साल 1973 में डब्ल्यूडब्ल्यूएफ (WWF) ने प्रोजेक्ट टाइगर को शुरू किया तब

उन्होंने राष्ट्रीय उद्यान वाली अवधारणा को और आगे बढ़ाने की कोशिश की। अगर शेर को बचाना है तो केवल शेर को शिकार से नहीं बचा सकते। शेर के पर्यावरण को भी बचाना पड़ेगा। उसी के लिए टाइगर रिज़र्व (शेर अभयारण्य) का निर्माण उन्होंने आवश्यक समझा। 1973 में इस प्रकार के 9 टाइगर रिज़र्व बने और बढ़ते–बढ़ते वह अब 23 हो गये हैं, यानि कि करीब तीन गुना बढ़ गये। लेकिन अगर शेरों की संख्या पर गौर किया जाए, तो बताया जाता है कि इस देश में 1901 में करीब 40,000 शेर थे, घटते–घटते वह 1972 में, जब यह अधिनियम पारित हुआ, उस समय 1800, और 2008 में जो गणना हुई, उसमें भी वह घट कर 1400 के करीब रह गए हैं। 9,000 हैक्टर से 33,000 हैक्टर जंगल बढ़ने के बावजूद शेर नहीं बच पाया है। यह समझने की जरुरत है कि आखिर ऐसा क्यों हुआ ?

1990 में डब्ल्यूडब्ल्यूएफ (WWF) को लगा कि शायद शेर इसलिए नहीं बच रहा है क्योंकि शेर का 'हैबिटेट', शेर जिस परिवेश में रहता है, वह नहीं बच पा रहा है। अगर उसको बचाना है तो कुछ हमको प्रदूषण के ऊपर या पर्यावरण नष्ट करने की ताकतों के ऊपर ध्यान देना पड़ेगा। 1990 में डब्ल्यूडब्ल्यूएफ (WWF) के अंदर प्रदूषण नियंत्रण कक्ष खोला गया। जिसमें उन्होंने मुझे एक इकाई बनाने को कहा। तीन साल के बाद उन्होंने कहा कि अब तुम जा सकते हो क्योंकि तुमने ज्यादा नुकसान कर दिया है। मैंने पूछा वह कैसे? उन्होंने कहा कि तुम जिस प्रदूषण रोकने की बात कर रहे हो वह प्रदूषण हमारे सबसे बड़े दाता फैला रहे हैं। या तो हम तुमको जीवित रखें या अपने दाताओं को जीवित रखें। इस संदर्भ में याद रखना जरूरी है कि डब्ल्यूडब्ल्यूएफ (WWF) की स्थापना हिंदुस्तान में उन लोगों ने की थी जिन लोगों ने सबसे ज्यादा शेरों का शिकार किया था। जब शिकार करने के लिये शेर नहीं रहा, तब उन्होंने कहा कि शेर को बचाने की बहुत सख्त जरुरत है। यह भी एक विडम्बना है कि पर्यावरण को बचाता कौन है, क्यों और किस प्रकार से ?

अगले ऐतिहासिक दौर में प्रकृति को बचाने के साथ यह सवाल भी उठा है कि मानव को कैसे बचाया जाये क्योंकि मानव भी प्रकृति का एक अंग है। 1973 में कोयल और कारो नदियों पर दो बांध बनने

वाले थे जैसे साइलेंट वैली में इसके पहले के दौर में बांध बनने वाला था। उन बांधों में केवल जंगल ही नहीं 112 गांव डूब रहे थे। उन गांवों में रहने वाले आदिवासियों को लगा कि हमारी रोजी–रोटी, हमारी जिंदगी, हमारा आवास यह सब नष्ट होने वाला है। 1976 में कोयल–कारो जन सम्मेलन नाम से एक आंदोलन छिड़ा। इनका पहला मुद्दा था कि इस बांध को बनाने में जो सर्वेक्षण हो रहा है और भूमि अधिग्रहण हो रही है उसी में बहुत सारी गड़बड़ियां हैं। कहीं पर गलत ढंग से सर्वे किया जा रहा है, कहीं पर जिसकी जमीन है, उसका नाम नहीं लिखा जा रहा है, उसमें भी भ्रष्टाचार है, मूल्यांकन में गड़बड़ियां हैं, मुआवज़ा देने में गड़बड़ियां हैं। इन बातों को लेकर जन आंदोलन शुरु हुआ और 1980 तक आते–आते जन आंदोलन ने माँग की कि जन सर्वेक्षण करने की ज़रूरत है।

उस समय जन सर्वेक्षण के साधन नहीं थे। अतः हम लोंगो ने एक छोटी–सी टीम बनाई और उनको जाकर तीन बातें सिखा दीं। एक तो यह कि नदी में कितना पानी बह रहा है, उसको कैसे नापा जाए। दूसरा, कि उस नदी में कितनी मिट्टी, कितनी गाद है, उसको कैसे नापा जाए। और तीसरा कि जमीन का कंटूर कैसे नापते हैं यानि कि अगर पानी एक स्तर तक आएगा तो उसके पीछे कितनी जमीन डूबेगी, उसको नापने की विधि सिखा दी। यह चार दिन की कार्यशाला थी और 19 गांवों में से 38 युवक आये थे। चार दिन में वह यह तीनों काम सीख गये और अगले तीन महीनों में उन्होंने गांव–गांव जाकर आंकड़े इकट्ठे किये, जिसमें उन्होंने निकाला कि 112 नहीं, 140 गांव डूब रहे हैं जिसमें 7,000 की जगह 40,000 परिवार हैं। उन्होंने यह भी नापा कि उसमें 152 'सरना' और तीन सौ 'संसाद्री' हैं। संसाद्री और सरना उनके पुराने रीति–रिवाजों से जुड़ी हुई जमीने हैं जहां पर या तो लोगों को दफनाया जाता है या देवी–देवता रहते हैं। इनकी भी उन्होंने गिनती की कि यह हमारी धरोहरों हैं और यह भी डूबने वाली हैं। मैं यह मानता हूं कि पहली बार इस देश में एक प्रकार से जनता की तरफ से यह ईआईए (EIA) हुआ। इसी ईआईए (EIA) के बलबूते उन्होंने कहा कि एक रिपोर्ट लिख दो, जो अंग्रेजी में होनी चाहिए। हमने पूछा क्यों ? उन्होंने कहा कि हिंदी तो हम समझ लेते हैं, लेकिन जो नीति निर्धारक हैं, उनको अंग्रेजी के अलावा और कुछ

समझ में नहीं आता। इसलिए यह अंग्रेजी में होनी चाहिए ताकि हम उनको दे सकें, विश्व बैंक को दे सकें, मंत्रालय को दे सकें। आप एक सारांश भी लिख दें ताकि इसमें जो तथ्य हैं वह पूरी तरह से लोगों के सामने आ जायें। उसके बाद आन्दोलनवादियों ने सर्वोच्च न्यायालय में एक याचिका दर्ज़ की। 1995 में पहली बार मेरे ख्याल से पर्यावरण के नाम पर कोयल कारो क्षेत्र में "जनता कर्फ्यू" दिया गया। किस प्रकार से जनता की अपनी ताकत बढ़ती है और कहने के लिए कि यह हमारी संपत्ति है, यहाँ पर हमारा राज चलता है, और यहां पर हमारी इजाज़त के बिना कोई अंदर घुस नहीं सकता। 2003 में मुख्यमंत्री का बयान आया कि यह परियोजना अब स्थगित कर दी गई है और 2010 में राज्यपाल द्वारा उसको बंद कर दिया गया। कोयल कारो परियोजना अब पूरी तरह से ठंडे बस्ते में चली गयी है। यह एक मिसाल है कि लोग किस प्रकार से विज्ञान को हथियार, क़ानून को हथियार और अपनी समझ को हथियार के रूप में उपयोग करते हैं, पर्यावरण का संरक्षण करने के लिए। इसमें यह भी बात छुपी हुई है कि ईआईए (EIA) कौन बनायेगा, किसके लिये बनायेगा, और उसमे किसकी सूझ–बूझ आएगी।

कुछ दिनों बाद, पर्यावरणीय इतिहास के तीसरे अध्याय में यह भी बात समझ में आने लगी कि केवल मानव जाति को बचाने से बात नहीं बनेगी, मानव और मानव में भी अंतर है और सब लोग एक ही तरह के नहीं होते हैं। अगर नाकेबंदी कर रहे हैं, तो कुछ इस तरफ होंगे, तो कुछ उस तरफ। 1978 में गोआ के पास जुआरी एग्रो कैमिकल्स का प्लांट बना था, रासायनिक खाद के उत्पादन के लिए। जुआरी द्वारा क्षेत्र में यह बात फैलाई गई, जो आज भी फैलाई जाती है कि यह फैक्टरी किसानों की भलाई के लिए और देश की तरक्की के लिए बन रही है। जुआरी से जो जलमल निकलता था वह बगल के समुद्र में ही बहा दिया जाता था जिसकी वजह से मछलियां मरने लगीं। वहां के मछुआरों ने देखना शुरु किया कि जैसे–जैसे यह फैक्टरी बढ़ रही है, वैसे–वैसे मछलियों की तादाद घटती जा रही है। फिर से रोजी–रोटी का सवाल आया और मछुआरों ने इसी सवाल को लेकर एक अहम आंदोलन छेड़ा कि मछली को अगर बचाना है तो जुआरी को ठिकाने लगाना पड़ेगा। जब यह बात केन्द्रीय सरकार तक पहुँची तो नागपुर

की सीपीएचईआरआई (CPHERI) संस्थान, जो आजकल एनईईआरआई (NEERI) के नाम से जाना जाता है, को अध्ययन का कार्य सौंपा गया कि वह पता लगाए कि जुआरी से समुद्र प्रदूषित हो रहा है या नहीं? सीपीएचईआरआई (CPHERI) ने अध्ययन करके रिपोर्ट प्रस्तुत की जिसके अनुसार प्रदूषण न के बराबर था और इससे कोई मछली मर नहीं रही थी। गोआ में मछुआरों को इस रिपोर्ट से बहुत आघात पहुंचा कि देश की सर्वश्रेष्ठ संस्थान हमारी बात को नकार रहा है तो अब क्या किया जाए? उनको सलाह दी गई कि परीक्षण गोआ में ही होना चाहिए। गोआ स्टेट लेबोरेट्री को परीक्षण के लिए पूछा गया। वह राजी हो गये और शायद ताज्जुब की बात नहीं कि उनकी रिपोर्ट बिल्कुल एनईईआरआई (NEERI) की रिपोर्ट के विपरीत आई। सिद्ध हुआ कि प्रदूषण हो रहा है और इससे मछलियां मर रही हैं। इसी रिपोर्ट की बुनियाद पर मछुआरे फिर से अदालत गये और जुआरी को प्रदूषण नियंत्रण मण्डल का आदेश आया कि इस प्रदूषण को रोका जाए।

शायद इत्तिफाक की बात हो, कि चाहे – केएसएसपी (KSSP) का आंदोलन हो चाहे कोयल कारो का आंदोलन, उसी समय धीरे–धीरे इस देश में क़ानून भी आने लगे। सन् 1974 में जल प्रदूषण अधिनियम आया। उसके बाद प्रदूषण मंडलों का निर्माण हुआ और इसकी वजह से जो तंत्र बना, उसी तंत्र का उपयोग करके जुआरी के प्रदूषण को रोकने की कोशिश की गई। लेकिन संयोग की बात है कि 2010 में फिर उसी जुआरी एग्रो कैमिकल्स को केन्द्रीय प्रदूषण मंडल को नोटिस देना पड़ा और मैं देख रहा हूँ कि हर चौथे या पांचवें साल में जुआरी को प्रदूषण रोकने के लिए एक नोटिस देना पड़ता है। शायद सस्टेनेबल डेवलपमैंट का मतलब यही है कि जुआरी प्रोडक्शन करता जाए, प्रदूषण करता जाए, और केन्द्रीय प्रदूषण मंडल उसको नोटिस पे नोटिस देता जाए, ताकि तीनों की सस्टेनेबिलिटी की इसमें गारंटी रहे।

1977 में छत्तीसगढ़ माईंस श्रमिक संघ की स्थापना दल्ली राजहरा में हुई जहां से भिलाई स्टील प्लांट बीएसपी (BSP) के लौह अयस्क की सप्लाई होती है। दल्ली राजहरा में दो तरह की खदानें थीं। एक जो कि मैन्युअल थी, जहां पर लोग हाथ से खुदाई करते थे, पत्थर को तोड़ते थे, और फिर वह पत्थर बीएसपी (BSP) जाता था। दूसरा

मैकेनाइज्ड था जहां पर सारा काम मशीनों द्वारा होता था और लेबर कम थी। मैन्युअल खदान में करीब 8,000 मज़दूर ठेके पर काम करते थे और 1977 में उनको दिहाड़ी में 80 रुपए मिलते थे और उन्हें कभी–कभी 16–17 घंटे काम करना पड़ता था। इसी बात को लेकर छत्तीसगढ़ माईंस श्रमिक संघ की स्थापना हुई। उस समय शंकर गुहा नियोगी जेल में थे। उनको खास तौर से जेल में पैगाम भेजा गया कि जब आप जेल से निकलेंगे, तब आपको इस यूनियन की अध्यक्षता करनी पड़ेगी। करीब छह सालों के अन्दर दिहाड़ी बढ़ते–बढ़ते 80 से बढ़कर 4,000 रूपए हो गयी। इससे समझ में आता है कि मज़दूरों का कितना शोषण उस ज़माने में हो रहा था। इसके चलते ठेकेदारी प्रथा पर भी रोक लगने लगी जिससे ठेकेदारों को बड़ा नुकसान हुआ। इधर यूनियन की तरफ से उस मज़दूर पर पैनल्टी लगने लगी जिसने वेतन अनाज खरीदने के लिए खर्च नहीं किया लेकिन शराब पर उड़ा दिया। यह भी अनहोनी सी बात है कि कोई यूनियन अपने सदस्यों के साथ ऐसा कर सकती है। वजह थी कि 8,000 मज़दूरों में से करीब आधी महिलाएं थीं। उन्हीं का कहना था कि मर्द यहां से पेमेन्ट लेकर आधा शराब में खर्च करते हैं। इसलिए यूनियन को यह कदम उठाना पड़ा और शराब के ठेकेदारों को बड़ा नुकसान हुआ।

ठेकेदारों ने स्टील प्लांट के ऊपर दबाव डाला कि आप इसका कुछ करिए। 1980 में बीएसपी (BSP) में मशीनीकरण का दौर इस तर्क पर चलाया गया कि मशीनों की कार्योत्पादन क्षमता मैन्युअल लेबर से ज्यादा है। उस समय शंकर गुहा नियोगी ने इस मुद्दे को गंभीरता से लेते हुए यूनियन की ओर से सेमी-मैकेनाइज़ेशन का प्रस्ताव रखा। सेमी मैकेनाइज़ेशन का मतलब है कि कुछ चीजें आप मशीनों द्वारा करो और बाकी चीजें आप मैन्युअल लेबर द्वारा, ताकि उत्पादकता और मज़दूरी दोनों चीजें कायम रहें। यूनियन के आमंत्रण पर जेएनयू (JNU) के चार विद्यार्थियों ने शोध कार्य सम्भाला और आंकड़े इकट्ठा करना शुरू किया कि सेमी-मैकेनाइज़ेशन, मैकेनाइज़ेशन या मैन्युअल, किसमें सबसे ज्यादा फायदा है। इस प्रकार का शोध इस देश में बहुत कम हुआ है लेकिन छात्रों में एक उत्साह था। शोध कार्य करते करते वह इस नतीजे पर पहुंचे कि अगर केवल आर्थिक तथ्यों को देखेंगे तो मैकेनाइज़ेशन का मुकाबला मैन्युअल नहीं कर सकता। उन्होंने सलाहकारों से भी बात

की जिन्होंने समझाया कि वे केवल उन आंकड़ों को देख रहे थे जो उत्पादन से जुड़े हुए थे। जब कुछ पर्यावर्णीय आंकड़े जुड़ना शुरू हुए, तब पता चला कि मैकेनाइज़्ड तरीके से खोदने में बारूद और बड़ी–बड़ी मशीनों के इस्तेमाल से जो अयस्क पैदा होता है उसमें धूल की मात्रा ज्यादा होती है। बीएसपी (BSP) धूल लेने से मना कर देती है। खदान में उत्पादकता तो बढ़ जाती है, लेकिन स्टील प्लांट में कम हो जाती है। मैन्युअल लेबर से हथौड़ा मार कर अयस्क को तोड़ने पर उसमें धूल के कण कम होते हैं और टुकड़े इस साइज़ के होते हैं जोकि बीएसपी (BSP) को चाहिए। इस प्रकार से आंकड़ों में जब पर्यावरण की विद्या डाली गई तब देखा गया की धूल की मात्रा बढ़ने से फेफड़ों पर असर पड़ेगा, सिलिकोसिस बीमारी पैदा होगी, उसका इलाज करना पड़ेगा। अन्ततः यह साबित हो गया कि सेमी-मैकेनाइज़ेशन एक अच्छा पर्याय है जिसके आधार पर मज़दूर भी जिंदा रह सकता है, पर्यावरण भी जिंदा रह सकता है और उत्पादकता भी बढ़ सकती है। 1983 में बीएसपी (BSP) ने इसी रिपोर्ट के आधार पर मशीनीकरण को स्थगित कर दिया और वह आज भी स्थगित है।

इस क्रम से चलते हुए चौथा पड़ाव आया जिसमें एक सवाल बार–बार उठता है कि विकास किस प्रकार से हो और मेरे हिसाब से यह बहुत बुनियादी सवाल है। एक मिसाल दिल्ली की है। दिल्ली में कुछ दिन पहले बस रैपिड ट्रांज़िट कॉरीडोर बीआरटी (BRT) को लेकर काफी हल्ला मचा। बीआरटी (BRT) में सड़क पर बीच में रास्ता बसों को दिया गया, बगल में दो लेन गाड़ियों को दिया गया और उसके बगल में साइकिल और पथिक के लिए भी लगातार जगह दी गई। जगह–जगह पर फेरीवालों के लिये भी जगह दी गई ताकि वह अपना माल बेच सकें और सड़क पर चलने वाले पथिक और साइकिल वालों को भी कुछ खरीदने का मौका मिल जाए। इसके साथ यह तथ्य भी जुड़ा हुआ है कि बस का यात्री हमेशा पथिक होता है। क्योंकि बस से उतरेगा तो उसको चलना पड़ेगा। इसी बीआरटी (BRT) के खिलाफ कुछ दिन पहले एक स्वयंसेवी संस्था ने जनहित याचिका दर्ज़ कर दी उनका दावा था कि बस के रास्ते पर बस तो फर्राटे से दौड़ रही है पर गाड़ी के रास्ते पर गाड़ी वाला जाम में खड़ा है जो गाड़ी वालों के प्रति सरासर अन्याय है। इसीलिए गाड़ी वालों की तरफ से अदालत

आये हैं कि बस वाली लेन में गाड़ी को भी जाने की इजाज़त हो। सबसे पहला सवाल तो यह उठता है कि यह "जनहित" याचिका है या नहीं, कि जनता कौन है, वह 12 फीसदी जोकि गाड़ियों पर चलती है या वह बाकी 88 फीसदी जो कि बसों पर, साइकिल पर और पैदल चलती है ? लेकिन अदालत ने बिना इस सवाल को पूछे हस्तक्षेप किया। उन्होंने सीआरआरआई (CRRI) को अध्ययन करने के लिए मनोनीत किया। अब सीआरआरआई (CRRI) भी नाम अजूबा है, सेंट्रल रोड रिसर्च इंस्ट्टियूट यानि कि सड़क के ऊपर शोध करने वाली संस्था।

लेकिन रोड को कौन देख रहा है और किस प्रकार से देख रहा है ? बस वाला देख रहा है, पैदल चलने वाला देख रहा है, रेहड़ी, पटरी वाला देख रहा है ? जो सीवर साफ करने वाला है वे कैसे देखते हैं ? और वृद्ध आदमी रोड को कैसे देखता है ? हममें से जो लोग 70 के ऊपर हो जायेंगे, उनको एक बड़ी चिंता है कि रोड पार कैसे करेंगे। पहले जिसे पेवमेंट या फुटपाथ कहते थे वह भी अब धीरे–धीरे ऊँचा होता जा रहा है, अब वह 18 इंच ऊँचा हो गया है। जिनके घुटनों में दर्द है, वह 18 इंच उतरें, फिर सिग्नल-फ्री सड़क पार करें और फिर 18 इंच चढ़े। सिग्नल-फ्री किसके लिए, किसके दृष्टिकोण से सड़क देखी जा रही है ? जैसे की सीआरआरआई (CRRI) ने जो शोध किया, उन्होंने दिखाया कि सही में बस की वजह से गाड़ी वालों को बड़ी तकलीफ है। उनकी रिपोर्ट के आधार पर अदालत ने प्रारम्भिक आदेश दिया कि बस कॉरिडोर को खत्म करो और उसमें गाड़ियों को भी चलने के लिए इजाज़त दो। संयोग से एक दूसरे जज आए। उनके सामने कुछ और तथ्य पेश हुए। एक और स्टडी हम कुछ लोगों ने मिल कर की कि सुप्रीम कोर्ट के आदेश के मुताबिक बीआरटी (BRT) क्यों बना था। उस आदेश में तीन मूल हिस्से हैं। पहला, कि इस कॉरिडोर में पब्लिक ट्रांसपोर्ट के लिए सुविधा होनी चाहिए; दूसरा, कि इसके बनने से भीड़–भड़क्का कम हो; और तीसरा कि प्रदूषण में कमी हो। कुछ तस्वीरें बीआरटी (BRT) के बनने से पहले की हैं और कुछ बीआरटी (BRT) के बनने के बाद की। उनकी तुलना के आधार पर हम लोगों ने पाया कि बीआरटी (BRT) तीनों पैमानों के आधार पर सफल रहा है। संयोग से नई पीठ ने इस बात को सुना और उन्होंने आदेश दिया कि बीआरटी (BRT) दोबारा चले।

एक नहीं, चौदह और बीआरटी (BRT) अब बनने वाली हैं, लेकिन बार–बार सवाल उठेगा कि क्या बीआरटी (BRT) को केवल परिवहन के हिसाब से देखना चाहिये या यातायात के हिसाब से, रोज़गार के नज़रिये या ग्लोबल वार्मिंग की दृष्टि से यानि कि एक बस में जब पचास लोग चलते हैं और एक गाड़ी में दो लोग तो प्रदूषण सबसे ज्यादा कौन पैदा कर रहा है ? विश्व बैंक की एक रिपोर्ट आई है कि बस से ज्यादा प्रदूषण होता है और कार से कम लेकिन यह मापने का उचित पैमाना नहीं है। पैमाना होना चाहिए प्रति सवारी किलोमीटर, यानि कि एक गाड़ी में कितनी सवारी कितने किलोमीटर जाते हैं। उसके हिसाब से एक बस में पचास लोग चढ़ते हैं तो 25 गाड़ियां कम हो जाती हैं। इसी तरह अगर हम एक अमीर परिवार और एक गरीब परिवार के बीच में तुलना करें दिल्ली जैसे शहर में, तो अमीर परिवार 8 गुना ज्यादा बिजली, 12 गुना ज्यादा पानी और 20 गुना ज्यादा ऊर्जा इस्तेमाल करता है। इस आधार पर अगर ग्लोबल वार्मिंग की बात की जाए तो आखिर "बेस्ट प्रेक्टिस" (उत्तम व्यवहार) किसका है ? जो कम ऊर्जा इस्तेमाल कर रहा हो, जो कम गैस पैदा कर रहा हो, या जो ज्यादा पैदा कर रहा हो? विकास किस प्रकार से हो और विकास का मॉडल कैसा हो?

मैं आखिर में दो बातें और जोड़ना चाहूँगा : एक, विकास की परिकल्पना कौन सामने रख रहा है, यह विकास किस वर्ग के फायदे में है ? सेमी-मैकेनाइज़ेशन कौन चाहेगा, बस कौन चाहेगा, कम-से-कम जगह में कम से कम पैसों में कम-से-कम खर्च में जिन्दगी चलाना कौन चाहेगा ? कोई न कोई एक वर्ग होगा इस समाज में जिसके हित में कम साधन उपयोग करना निहित है। दूसरा, यह जो सारे खर्च हैं जोकि हम "कॉस्ट बैनेफिट एनैलिसिस" (लाभ–हानि का हिसाब) में नहीं लाते हैं, ईआईए (EIA) में नहीं लाते हैं, अगर हम उनको लाना शुरू कर दें तो क्या मुनाफ़ा होगा ? सरकार कह रही है 112 गाँव डूबेंगे; अगर उसकी जगह आप कहें कि 140 गाँव डूब रहे हैं, 7,000 नहीं, 40,000 डूब रहे हैं : तो आंकड़ों का पलड़ा बिल्कुल बदलने लगता है। नुकसान बढ़ता जाता है और आखिर में एक यह वक्त भी आता है कि किसी भी परियोजना में आप यह नहीं कह पाओगे कि फायदा ज्यादा है और नुकसान कम क्योंकि यह प्रकृति का नियम

है कि आप किसी भी प्रक्रिया से अधिक नहीं निकाल सकते; अर्थात् एक चीज़ में आप 100 डालो और कोशिश करो कि उसमें से 108 निकले, यह प्रकृति के नियमों के मुताबिक संभव नहीं है। इसीलिए अर्थशास्त्र, भौतिक विज्ञान के खिलाफ जाता है, और यही सबसे बड़ी विडम्बना है कि अगर इन सारी कीमतों को आप जोड़ना शुरू कर दो–जिसको अंग्रेजी में सोशल ऐण्ड एंवायरमेंटल एक्सटरनेलिटीस कहते हैं-तो कहीं-न-कहीं बैनेफिट कॉस्ट एनैलिसिस पूरी तरह से बिगड़ जाएगा। इसीलिए अब यह सवाल पैदा हो रहा है कि आप विकास की कीमत को कैसे आंकेंगे, कौन इसकी कीमत दे रहा है, किसको फायदा हो रहा है, और किस प्रकार विकास चल रहा है? मेरी समझ में यह कुछ सीख हैं, कुछ सबक है, जो कई लोगों ने मिलकर पर्यावरण विद्या के रास्ते, इस देश में समझने की कोशिश की है।

मैं उनको आपके सामने रख रहा हूँ। इसलिए नहीं कि यह एक अंतिम चरण है, लेकिन इस यात्रा में कई चरण आते हैं और उसको आगे बढ़ाने की जिम्मेदारी आप जैसे लोगों पर ही है। इसको बढ़ाना है तो कहीं-न-कहीं कुछ दिमागी कसरत करनी पड़ेगी, कुछ ज़मीन पर भी कसरत करनी पड़ेगी।